जैन-एकता का प्रश्न

विश्व के प्रमुख धर्मों में जैनधर्म एक अल्पसंख्यक धर्म है। लगभग ३ अरब की जनसंख्या वाले इस भूमण्डल पर जैनों की जनसंख्या ५० लाख से अधिक नहीं है अर्थात विश्व के ६०० व्यक्तियों में केवल १ व्यक्ति जैन हैं। दुर्भाग्य यह है कि एक अल्पसंख्यक धर्म होते हुए भी वह आज अनेक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में बँटा हुआ है। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो मूल शाखाएँ तो हैं ही, किन्तु वे शाखाएँ भी अवान्तर सम्प्रदायों में और सम्प्रदाय गच्छों में विभाजित हैं। दिगम्बर-परम्परा के बीसपंथ, तेरापंथ और तारणपंथ ये तीन उपविभाग हैं। वर्तमान में कानजी स्वामी के अनुयायियों का नया सम्प्रदाय भी बन गया है। श्वेताम्बर-परम्परा में मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी ये तीन सम्प्रदाय हैं। इनमें मूर्तिपूजक और स्थानकवासी अनेक गच्छों में विभाजित हैं। तेरापंथी सम्प्रदाय में भी अब नवतेरापंथ का उदय हुआ है। इनके अतिरिक्त भी जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं की मध्यवर्ती-योजक कड़ी के रूप में 'यापनीय' नामक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर १५ वीं शताब्दी तक अस्तित्व में रहा। किन्तु आज यह विलुप्त हो गया है। वर्तमान में श्रीमद्राजचन्द्र के कविपंथ का भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में अस्तित्व है, यद्यपि इसके अनुयायी बहुत ही कम हैं। जैनधर्म के ये सभी सम्प्रदाय आज परस्पर बिखरे हुए हैं और कोई भी ऐसा सूत्र तैयार नहीं हो पाया है जो इन बिखरी हुई कड़ियों को एक दूसरे से जोड़ सके। भारत जैन महामण्डल नामक संस्था के माध्यम से इन्हें जोड़ने का प्रयास किया गया किन्तु उसमें उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं हुई।

जैन समाज न केवल धार्मिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों में बँटा हुआ है अपितु सामाजिक दृष्टि से अनेक जातियों और उपजातियों में विभाजित है। इसमें अग्रवाल, खण्डेवाल, बघेरवाल, मोढ़ आदि कुछ जातियों की स्थिति तो ऐसी है जिनके कुछ परिवार जैनधर्म के अनुयायी हैं तो कुछ वैष्णव। एक ही जाति में विभिन्न जैन-उपसम्प्रदायों के अनुयायी भी पाये जाते हैं - जैसे ओसवालों में श्वेताम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथी। इन तीनों सम्प्रदायों के अनुयायी तो प्रचुरता से पाये ही जाते हैं किन्तु क्वचित् दिगम्बर, जैन और वैष्णव धर्म के अनुयायी भी मिलते हैं।

जातिवाद का विष

डा० विलास आदिनाथ संगवे ने अपनी पुस्तक 'जैन-कम्युनिटी' में उत्तर भारत की ८४ तथा दक्षिण भारत की ९१ जैन जातियों का उल्लेख किया है। पुराने समय में तो इन जातियों में पारस्परिक भोजन-व्यवहार सम्बन्धी कठोर प्रतिबन्ध थे। विवाह सम्बन्ध तो पूर्णतया वर्जित थे। आज खान-पान (रोटी-व्यवहार) सम्बन्धी प्रतिबन्ध तो शिथिल हो गये हैं किन्तु विवाह (बेटी-व्यवहार) सम्बन्धी प्रतिबन्ध अभी भी यथावत् हैं। आश्चर्य तो यह है कि आज भी एक जाति का जैन परिवार अपनी जाति के वैष्णव परिवार में तो विवाह-सम्बन्ध कर लेगा किन्तु इतर जाति के जैन परिवार में विवाह-सम्बन्ध करना उचित नहीं समझेगा। विगत दो दशकों में हिन्दू खटिक एवं गुजराती बलाईयों के द्वारा जैनधर्म अपनाने के फलस्वरूप वीरवाल और धर्मपाल नामक जो दो नवीन जैन जातियाँ अस्तित्व में आई हैं किन्तु उनके साथ भी पारस्परिक सामाजिक एकात्मकता का अभाव ही है। जैन-जातियों में पास्परिक अलगाव की यह स्थिति उनकी भावनात्मक एकता में बाधक है। हमारा बिखराव दोहरा है- जातिगत और दूसरा सम्प्रदायगत। जब तक इन जातियों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध और समानस्तर की सामाजिक एकात्मकता स्थापित नहीं होगी तब तक भावनात्मक एकता को स्थायी आधार नहीं मिलेगा। अनेक जातियों में जो दसा और बीसा का भेद है और उस आधार पर या सामान्यरूप में भी जातियों को एक दूसरे से ऊँचा-नीचा समझने की जो प्रवृत्ति है, उसे भी समाप्त करना होगा। वर्तमान परिस्थितियों में चाहे इन जातिगत विभिन्नताओं को मिटा पाना सम्भव नहीं हो, किन्तु उन्हें समान स्तर की सामाजिकता तो प्रदान की जा सकती है। यदि समान स्तर की सामाजिकता और पारस्परिक विवाह-सम्वन्ध स्थापित हो जायें तो जातिवाद की ये दीवारें अगली दो-चार पीढ़ियों तक स्वतः ही ढह जायेंगी। जैनधर्म मूलतः जातिवाद का समर्थक नहीं रहा है, यह सब उस पर ब्राह्मण-संस्कृति का प्रभाव है। यदि हम अन्तरात्मा से जैनत्व के हामी हैं तो हमें ऊँच, नीच और जातिवाद की इन विभाजक दीवारों को समाप्त करना होगा, तभी भावनात्मक सामाजिक एकता का विकास हो सकेगा।

साम्प्रदायिकता का विष

आज जैन-समाज का श्रम, शक्ति और धन किन्हीं रचनात्मक कार्यों में लगने के बजाय पारस्परिक संघर्षों, तीर्थों और मन्दिरों के विवादों, ईर्ष्यायुक्त प्रदर्शनी और आडम्बरों तथा थोथी प्रतिष्ठा की प्रतिस्पर्धा में किये जाने वाले आयोजनों में व्यय हो रहा है। इस नग्न सत्य को कौन नहीं जानता है कि हमने एक-एक तीर्थ और मंदिर के झगड़ों में इतना पैसा बहाया है और बहा रहे हैं कि उस धन से उसी स्थान पर दस-दस भव्य और विशाल मन्दिर खड़े किये जा सकते थे। अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ, मक्सी, केसरियाजी जैसे अनेक तीर्थ-स्थलों पर आज भी क्या हो रहा है ? जिस जिन-प्रतिमा को हम पूज्य मान रहे हैं, उसके साथ क्या-क्या कुकर्म हम नहीं कर रहे हैं ? उस पर उबलता पानी डाला जाता है, नित्यप्रति गरम शलाखों से उसकी आँखे निकाली और लगायी जाती हैं। अनेक बार लँगोट आदि के चिह्न बनाये और मिटाये गये हैं। क्या यह सब हमारी अन्तरात्मा को कचोटता नहीं है ?

पारस्परिक संघर्षों में वहाँ जो घटनाएँ घटित हुई हैं, वे क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अहिंसक समाज के लिए शर्मनाक नहीं हैं ? क्या यह उचित है कि चींटी की रक्षा करनेवाला समाज मनुष्यों के खून से होली खेले ? पत्र-पत्रिकाओं में एक दूसरे के विरुद्ध जो विष-वमन किया जाता है, लोगों की भावनाओं को एक दूसरे के विपरीत उभाड़ा जाता है, वह क्या समाज के प्रबुद्ध विचारकों के हृदय को विक्षोभित नहीं करता है ? आज आडम्बरपूर्ण गजरथों, पञ्चकल्याणकों और प्रतिष्ठा समारोहों-मुनियों के चातुर्मासों में चलनेवाले चौकों और दूसरे आडम्बरपूर्ण प्रतिस्पर्धा-आयोजनों में जो प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों का अपव्यय हो रहा है, वह क्या धन के सदुपयोग करनेवाले मितव्ययी जैन-समाज के लिए हृदय-विदारक नहीं है ? भव्य और गरिमापूर्ण आयोजन बुरे नहीं हैं किन्तु वे जब साम्प्रदायिक दूरभिनिवेश और ईर्ष्या के साथ जुड़ जाते हैं तो अपनी सार्थकता खो देते हैं । पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में हमने एक-एक गाँव में और एक-एक गली में दस-दस मन्दिर तो खड़े कर लिये किन्तु उनमें आबू, राणकपुर, जैसलमेर, खुजराहो या गोमटेश्वर जैसी भव्यता एवं कला से युक्त कितने हैं ? एक-एक गाँव या नगर में चार-चार धार्मिक पाठशालाएँ चल रही हैं, विद्यालय चल रहे हैं किन्तु सर्व सुविधा सम्पन्न सुव्यवस्थित विशाल पुस्तकालय एवं शास्त्र-भण्डार से युक्त जैन विद्या के अध्ययन और अध्यापन-केन्द्र तथा शोध-संस्थान कितने हैं ? अनेक अध्ययन-अध्यापन केन्द्र साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा में एक ही स्थान पर खड़े तो किये गये किन्तु समग्र समाज के सहयोग के अभाव में कोई भी सम्यक् प्रगति नहीं कर सका ।

एकता की आवश्यकता क्यों ?

जैन-समाज की एकता की आवश्यकता दो कारणों से है । प्रथम तो यह कि पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एवं प्रतिस्पर्धा में समाज के श्रम, शक्ति और धन का जो अपव्यय हो रहा है, उसे रोका जा सके । जैसा हमने सूचित किया आज समाज का करोड़ों रुपया प्रतिस्पर्धी थोथे प्रदर्शनों और पारस्परिक विवादों में खर्च हो रहा है, इनमें न केवल हमारे धन का अपव्यय हो रहा है, अपितु समाज की कार्य-शक्ति भी इसी दिशा में लग जाती है । परिणामतः हम योजनापूर्वक समाज-सेवा और धर्म-प्रसार के कार्यों को हाथ में नहीं ले पाते हैं । यद्यपि अनियोजित सेवा-कार्य आज भी हो रहे हैं किन्तु उनका वास्तविक लाभ समाज और धर्म को नहीं मिल पाता है । जैन-समाज के सैकड़ों कॉलेज और हजारों स्कूल चल रहे हैं- किन्तु उनमें हम कितने जैन-अध्यापक खपा पाये हैं और उनमें से कितने में जैन-दर्शन, साहित्य और प्राकृत भाषा के अध्ययन की व्यवस्था है । देश में जैन-समाज के सैकड़ों हॉस्पीटल हैं, किन्तु उनमें हमारा सीधा इन्वाल्वमेण्ट न होने से हम जन-जन से अपने को नहीं जोड़ पाये हैं, जैसा कि ईसाई मिशनरियों के अस्पतालों में होता है । सामाजिक बिखराव के कारण हम सर्व सुविधा सम्पन्न बड़े अस्पताल या जैन-विश्वविद्यालय आदि के व्यापक कार्य हाथ में नहीं ले पाते हैं ।

दूसरे जैनधर्म की धार्मिक एवं सामाजिक एकता का प्रश्न आज इसीलिए महत्त्वपूर्ण बन गया है कि अब इस प्रश्न के साथ हमारे अस्तित्व का प्रश्न जुड़ा हुआ है । प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था में किसी वर्ग की आवाज इसी आधार पर सुनी और मानी जाती है कि उसकी संगठित मत-शक्ति एवं सामाजिक प्रभावशीलता कितनी है । किन्तु एक विकेन्द्रित और अननुशासित धर्म एवं समाज की न तो अपनी मत-शक्ति होती है और न उसकी आवाज का कोई प्रभाव ही होता है । यह एक अलग बात है कि जैन समाज के कुछ प्रभावशाली व्यक्तित्व प्राचीनकाल से आज तक भारतीय शासन एवं समाज में अपना प्रभाव एवं स्थान रखते आये हैं किन्तु इसे जैन-समाज की प्रभावशक्ति मानना गलत होगा । यह जो भी प्रभाव रहा है उनकी निजी प्रतिभाओं का है, इसका श्रेय सीधे रूप में जैन समाज को नहीं है । चाहे उनके नाम का लाभ जैन समाज की प्रभावशीलता को बताने के लिए उठाया जाता रहा है । मानवतावादी वैज्ञानिक धर्म, अर्थ-सम्पन्न समाज तथा विपुल साहित्यिक एवं पुरातत्त्वीय सम्पदा का धनी यह समाज आज उपक्षित क्यों है ? यह एक नितान्त सत्य है कि भारतीय इतिहास में जैन-समाज स्वयं एक शक्ति के रूप में उभरकर सामने नहीं आया । यदि हमें एक शक्ति के रूप में उभर कर आना है तो संगठित होना होगा । अन्यथा धीरे-धीरे हमारा अस्तित्व नाम-शेष हो जायेगा । आज 'संघे शक्तिः कलियुगे' लोकोक्ति को ध्यान में रखना होगा ।

हमारे विखराव के कारण —

यह सही है कि जैन समाज की इस विच्छिन्न दशा पर प्रबुद्ध विचारकों ने सदैव ही चार-चार आँसू बहाये हैं और उसकी वेदना का हृदय की गहराइयों तक अनुभव किया है । इसी दशा को देखकर अध्यात्मयोगी संत आनन्दघनजी को कहना पड़ा था -

गच्छना बहुभेद नयन निहालतां
तत्व नी बात करता नी लाजे ।

यद्यपि प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा समय-समय पर एकता के प्रयत्न भी हुए हैं, चाहे उनमें अधिकांश उपसम्प्रदायों की एकता तक ही सीमित रहे हों । भारत-जैन-महामण्डल, वर्द्धमान स्थानकवासी जैन-श्रमण-संघ, श्वेताम्बर-जैन-कान्फ्रेन्स, दिगम्बर-जैन-महासभा, स्थानकवासी-जैन-कान्फरेन्स इसके अवशेष हैं । इनके लिए अवशेष शब्द का प्रयोग मैं जानबूझकर इसलिए कर रहा हूँ कि आज न तो कोई अन्तर की गहराइयों से इनके प्रति श्रद्धानिष्ठ है और न इनकी आवाज में कोई बल है - ये केवल शोभा मूर्तियाँ हैं, जिनके लेबल का प्रयोग हम साम्प्रदायिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए या एकता का ढिंढोरा पीटने के लिए करते रहते हैं । अन्तर में हम सब पहले श्वेताम्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, दिगम्बर, बीस-पन्थी, तेरापन्थी, कानजीपंथी हैं, बाद में जैन । वस्तुतः जब तक यह दृष्टि नहीं बदलती है, इस समीकरण को उलटा नहीं जाता, तब तक जैन समाज की भावात्मक एकता का कोई आधार नहीं बन सकता । आज स्थानकवासी जैन-श्रमण-संघ को जिसके निर्माण के पीछे समाज के प्रबुद्धवर्ग की वर्षों का श्रम एवं साधना थी और समाज का लाखों रुपया व्यय हुआ था, किसने नामशेष बनाया है ? इसके लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहर के लोगों की अपेक्षा अन्दर के लोग अधिक जवाबदार हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-समाज के मुनिवर्ग के अहमदाबाद सम्मेलन का कोई प्रभावकारी परिणाम क्यों नहीं निकला ?

आज तेरापन्थ जिसकी एकता पर हमें नाज़ था, विखराव की स्थिति में क्यों है ? दिगम्बर-मुनिसंघ यद्यपि अभी अल्पसंख्या में हैं किन्तु उसमें भी विखराव के लक्षण उभर कर सामने आने लगे हैं। अलग-अलग तम्बू लगने लगे हैं। कानजीपन्थ और मूल-आम्नाय का विवाद तो खुलकर सामने आ ही गया था, चाहे कानजी स्वामी के स्वर्गवास के पश्चात् उसमें कुछ कमी आई हो ? बात कठोर अवश्य है, किन्तु सही स्थिति यह है कि आज समाज का अधिकांश मुनिवर्ग, कुछ नेतृत्व के भूखे श्रावक और पण्डित अपनी दुकान जमाने के चक्कर में हैं ? अपनी पूजा एवं प्रतिष्ठा बटोरने के प्रयास में है। वे सभी महावीर के नाम का उपयोग तो केवल इसलिए करते हैं कि अपनी दुकान चल निकले। जब हम सब अपनी दुकान जमाने को आतुर होंगे तो महावीर की दुकान कौन चलायेगा ? जब मुनीम अपनी दुकान जमाने के फेर में पड़ जाता है तो सेठ की दुकान की क्या स्थिति होगी - यह सुविदित ही है। जैन-एकता की पीठ में जब भी कोई छुरा भौंका गया है तो ऐसे ही लोगों के द्वारा भौंका गया है।

विखराव का मूल कारण-प्रतिष्ठा की भूख

समाज में जब भी कोई मुनि या पण्डित थोड़ा बहुत प्रवचन-पटु बना कि वह अपना एक अलग तम्बू गाड़ने का प्रयास करने लगता है। अपने उपासक, अपनी संस्था और अपना पत्र इस प्रकार एक नया वर्ग खड़ा हो जाता है और विखराव की स्थिति आ जाती है। विखराव इसलिए होता है कि समाज की आस्था का मूल- केन्द्र महावीर या उनका धर्म न होकर वह मुनि, आचार्य या विद्वान् होता है। लेखक ने स्वयं देखा है कि आज स्थानकवासी समाज में अधिकांश मुनि और साध्वियाँ प्रवचन के पूर्व में, अन्त में और प्रार्थनाओं में अपने-अपने वर्तमान आचार्यों का ही स्तवन-गान करते हैं। अब तो भक्तामर शैली में संस्कृत भाषा में निबद्ध जीवित आचार्यों के स्तोत्र बन चुके हैं। शायद आज हम उस महावीर को भुला चुके हैं जिसे हमारी सभी की आस्था का केन्द्र होना चाहिये और जिसके आधार पर ही हम सब एकता के सूत्र में बँध सकते हैं। जो जैन धर्म गुणपूजक था, जिसके महान् आचाया ने अपने नमस्कार-मंत्र में किसी भी व्यक्ति का, यहाँ तक कि महावीर का भी नाम न रखा था, उसमें बढ़ती हुई यह व्यक्ति-उपासना ही हमारे विखराव का कारण है। यदि हम सच्चे हृदय से जैन-एकता को चाहते हैं- समाज से ये व्यक्ति-परक स्तुतियाँ तत्काल बन्द कर देना चाहिए। सार्वजनिक प्रार्थनासभाओं, प्रवचनों आदि में केवल तीर्थंकरों का ही स्तवन हो, किसी आचार्य या मुनि-विशेष का नहीं। आचार्यों और मुनियों के प्रति विनयभाव तो रहे, किन्तु श्रद्धा का केन्द्र वीतरागता और समतामय धर्म ही हो -कोई व्यक्ति नहीं। संक्षेप में हम व्यक्तिपूजक नहीं, गुणपूजक बनें। समाज में जब व्यक्तिपूजा के स्थान पर गुणपूजा प्रतिष्ठित होगी तभी समाज में एकता की भावना सबल होगी। व्यक्तिपूजा, पूजक और पूज्य दोनों के अहंकार का सिंचन करती है और उनकी चारित्रिक स्खलनाओं का कारण बनती है। लेखक ने जीवित आचार्यों और मुनियों के ऐसे स्तोत्र देखे, जिनमें उनके गुणों एवं अतिशयों का ऐसा चित्रण है जो उन्हें वीतराग-प्रभु के समकक्ष ही प्रस्तुत करता है। समाज में अभिनन्दन-समारोहों और अभिनन्दन-ग्रन्थों की आयी हुई बाढ़ भी अहंकार-पुष्टि का ही माध्यम है। अहंकार ऐसा मीठा जहर है-जिससे मुक्ति पाना बड़ा कठिन है। जब भी किसी व्यक्ति के ऐसे पुष्ट अहंकार पर चोट पड़ती है या ईर्ष्यावश किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा जाग जाती है तो वह अपना अखाड़ा अलग बना लेता है। अनेक सम्प्रदायों के उद्भव के पीछे यही एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। विभिन्न सम्प्रदायों के उद्भव की जो कहानियाँ जैन-ग्रन्थों में दी गई हैं, वे इसी बात की पुष्टि करती हैं। किसी के अहंकार का अमर्यादित पोषण दूसरे की महत्वाकांक्षा को बढ़ता और समाज में ईर्ष्या या विद्वेष के विष-वृक्ष को पनपाता है।

हमारी धार्मिक एवं सामाजिक एकता का विकास तभी सम्भव है जब सामाजिक जीवन व्यक्तियों के अहंकार के पोषण की ये अमर्यादित प्रवृत्तियाँ प्रतिबन्धित हों और दूसरों को हीन या अपमानित अनुभव करने के अवसर उपस्थित नहीं हों।

धार्मिक सम्प्रदायों के पारस्परिक संघर्षों का उद्भव क्यों और कैसे ?

विभिन्न युगों में जैनाचार्य अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साधना के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहे हैं। देशकालगत परिस्थितियों के प्रभाव के कारण और साधक की साधना क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म-साधना के बाह्य रूपों में ऐसे परिवर्तनों का हो जाना स्वाभाविक ही था और न केवल जैन अपितु सभी धर्मों के इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है, साधना सम्बन्धी ये सब विविधताएँ धार्मिक संघर्षों का कारण नहीं बनतीं। साम्प्रदायिक मतान्धता और संघर्षों का कारण साधना सम्बन्धी विविधता में नहीं अपितु मनुष्य की ममता, आसक्ति, अहंकार और स्वार्थपरता में ही रहा है।

वस्तुतः मनुष्य जब अपने धर्माचार्य के प्रति रागात्मकता के कारण अथवा अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार के कारण अपने धर्म, सम्प्रदाय या साधना पद्धति को ही एकमात्र और अन्तिम सत्य तथा अपने धर्मगुरु को ही सत्य का एक मात्र प्रवर्तक मान लेता है, तो परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक वैमनस्य का सूत्रपात हो जाता है। वस्तुतः धार्मिक वैमनस्यों और धार्मिक संघर्षों के मूलभूल कारण मनुष्य का अपने धर्माचार्य और सम्प्रदाय के प्रति आत्यन्तिक रागात्मक तथा तज्जन्य अपने मत की ऐकान्तिक सत्यता का आग्रह ही है। यद्यपि विखराव के अन्य कारण भी होते हैं।

वस्तुतः धार्मिक विविधताओं और धर्म-सम्प्रदायों के उद्भव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनेक कारण होते हैं जिनमें से कुछ उचित कारण और कुछ अनुचित कारण होते हैं ।

उचित कारण निम्न हैं - १.सत्य सम्बन्धी दृष्टिकोण-विशेष या विचार-भेद, २. देशकालगत भिन्नता के आधार पर आचार सम्बन्धी नियमों की भिन्नता, ३. पूर्वप्रचलित धर्म या सम्प्रदाय में युग की आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन या संशोधन । जबकि अनुचित कारण ये हैं - १.वैचारिक दुराग्रह, २.पूर्व सम्प्रदाय या धर्म में किसी व्यक्ति का अपमानित होना, ३.किसी व्यक्ति को प्रसिद्धि पाने की महत्वाकांक्षा, ४.पूर्व सम्प्रदाय के लोगों से अनबन हो जाना ।

यदि हम उपर्युक्त कारणों का विश्लेषण करें, तो हमारे सामने दो बातें स्पष्टत: आ जाती हैं । प्रथम, यह कि देशकालगत तथ्यों की विभिन्नता, वैचारिक विभिन्नता अथवा प्रचलित परम्पराओं में आयी हुई विकृतियों के संशोधन के निमित्त विविध धार्मिक सम्प्रदायों का उद्भव होता है, किन्तु ये कारण ऐसे नहीं हैं जो साम्प्रदायिक वैमनस्य के आधार कहे जा सकें । वस्तुत: जब भी इनके साथ मनुष्य के स्वार्थ , दुराग्रह, अहंकार, महत्वाकांक्षा और पारस्परिक ईर्ष्या के तत्त्व प्रमुख बनते हैं, तभी धार्मिक उन्मादों का अथवा साम्प्रदायिक कटुता का जन्म होता है और शान्ति प्रदाता धर्म ही अशान्ति का कारण बन जाता है । आज के वैज्ञानिक युग में जब व्यक्ति धर्म के नाम पर यह सब देखता है तो उसके मन में धार्मिक अनास्था बढ़ती है और वह धर्म का विरोधी बन जाता है । यद्यपि धर्म के विविध सम्प्रदायों में बाह्य नियमों की भिन्नता हो सकती है, तथापि यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो इसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र खोजे जा सकते हैं ।

साम्प्रदायिक वैमनस्य का अन्त कैसे हो ?

धर्म के क्षेत्र में असहिष्णुता का जन्म तब होता है जब हम यह मान लेते हैं कि हम जिस आचार्य को अपनी आस्था या श्रद्धा का केन्द्र मान रहे हैं, उसका पक्ष ही एकमात्र सत्य है और उसके अतिरिक्त अन्य सभी मिथ्यात्वी और शिथिलाचारी हैं । 'हम सच्चे और दूसरे झूठे' की भ्रान्त धारणा धार्मिक असहिष्णुता को जन्म देती है । यह मान लेना कि सत्य का सूर्य केवल हमारे घर को ही आलोकित करता है, एक मिथ्या धारणा ही है । जबकि जैनधर्म का अनेकान्तवाद यह मानता है कि सत्य का बोध और प्रकाशन दूसरों के द्वारा भी सम्भव है, सत्य हमारे विपक्ष में हो सकता है । हम ही सदाचारी और शुद्धाचारी हैं - दूसरे सब शिथिलाचारी और असंयती हैं - यह कहना क्या उन लोगों को शोभा देता है जिनके शास्त्र 'अन्यलिंगसिद्धा' का उद्घोष करते हैं । आज दुर्भाग्य तो यह है कि जो दर्शन अनेकांत के सिद्धान्त के द्वारा विश्व के विभिन्न धर्म और दर्शनों में समन्वय की बात कहता है और जो 'षट्दरसण जिन अंग भणीजे' की व्यापक दृष्टि प्रस्तुत करता है, वह स्वयं अपने ही सम्प्रदायों के बीच समन्वय-सूत्र नहीं खोज पा रहा है ।

एक ओर अनेकांतवाद का उद्घोष और दूसरी ओर सम्प्रदायों का व्यामोह - दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते । वस्तुत: कोई व्यक्ति जैन हो और उसमें साम्प्रदायिक दुराग्रह भी हो, यह नहीं हो सकता । यदि हम साम्प्रदायों में आस्था रखते हैं, तो इतना सुनिश्चित है कि हम जैन नहीं हैं । जैनधर्म की परिभाषा है-

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्य पीडनं किञ्चित् जैनधर्मःस उच्यते ।।

जो स्याद्वाद में आस्था रखता है तथा पक्षपात से दूर है और जो किसी को पीड़ा नहीं देता, वही जैनधर्म का सच्चा अनुयायी है । अहिंसा और अनेकान्त के सच्चे अनुयायियों में साम्प्रदायिक वैमनस्य पनपे, यह सम्भव नहीं है । यहाँ हमारे जीवन के विरोधाभास स्पष्ट हैं । हम अहिंसा की दुहाई देते हैं ओर अपने ही सहधर्मी भाइयों को पीटने या पिटवाने का उपक्रम करते हैं - हमारी साम्प्रदायिक वैमनस्यता ने अहिंसा की पवित्र चादर पर खून की छीटें डाली हैं - अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ और केसरियाजी की घटनाएँ आज भी इसकी साक्षी हैं । हम अनेकांत का नाम लेते हैं और साम्प्रदायिक क्षुद्रताओं से बुरी तरह जकड़े हुए अपने सम्प्रदाय के अलावा हमें सभी मिथ्यात्वी नजर आते हैं । अपरिग्रह की दुहाई देते हैं किन्तु देवद्रव्य के नाम पर धन का संग्रह करते हैं, मन्दिरों की सम्पत्तियों के लिए न्यायालयों में वाद प्रस्तुत करते हैं । आश्चर्य तो यह है कि वादी के नाम में परम अपरिग्रही भगवान् का नाम भी जुड़ता है । जिस प्रभु ने अपनी समस्त धन-सम्पत्ति का दान करके जीवनपर्यन्त अपरिग्रह की साधना की, उसके अनुयायी होने का दम्भ भरनेवाले हम क्या उसी प्रभु की एक प्रतिमा या मन्दिर भी अपने दूसरे भाई को प्रदान नहीं कर सकते ? वस्तुत: हमारे जीवन-व्यवहार का जैनत्व से दूर का भी रिश्ता नहीं दिखाई देता है ।

हमारे अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त मात्र दिखावा हैं-छलना हैं - वे हमारे जीवन के साथ जुड़ नहीं पाये हैं तभी तो आध्यात्मिक सन्त आनन्दघन जी को वेदना के दो आँसू बहाते हुए कहना पड़ा था-

गच्छना भेद बहु नयने निहालतां,
तत्त्वनी बात करतां न लाजे ।
उदरभरणादि निज काज करतां थकां,
मोह नडिया कलिकाल राजे ।

गच्छों और सम्प्रदायों के विविध भेदों को अपने समक्ष देखते हुए भी हमें अनेकांत के सिद्धान्त की दुहाई देने में शर्म क्यों नहीं आती ? वस्तुत: इस कलिकाल में व्यामोहों (दुराग्रहों) से ग्रस्त होकर सभी केवल अपना पेट भरने के लिए अर्थात् वैयक्तिक पूजा और प्रतिष्ठा पाने के लिए प्रयत्नशील हैं । भावार्थ यही है कि सम्प्रदायों और गच्छों के नाम पर हम अपनी-अपनी दुकानें चला रहे हैं । जिनप्रणीत धर्म और सिद्धान्तों का उपदेश तो केवल दूसरों के लिए है - तुम हिंसा मत करो, तुम दुराग्रही मत बनो, तुम परिग्रह का संचय मत करो आदि । किन्तु हमारे अपने में कहाँ हिंसा, आग्रह और आसक्ति (स्वार्थ-वृत्ति) के तत्त्व छिपे हुए हैं, इसे नहीं देखते हैं । वस्तुत: साम्प्रदायिक वैमनस्य इसीलिए है कि अहिंसा, अनाग्रह और अनासक्ति के धार्मिक आदर्श हमारे जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अंग नहीं बन पाये हैं यदि धर्म का अमृत जीवन में प्रविष्ट हो जाये तो साम्प्रदायिकता के विष का प्रवेश ही नहीं हो सकता। हम एकता की दिशा में तभी गतिशील हो सकेंगे जब जीवन में अहिंसा, अनाग्रह, नि:स्वार्थता और अपरिग्रह के तत्त्व विकसित होंगे। इनके विकास के साथ ही साम्प्रदायिक दौर्मनस्य अपने आप समाप्त हो जायेगा। यदि प्रकाश आयेगा तो अंधकार अपने आप समाप्त हो जायेगा। प्रयत्न अन्धकार को मिटाने का नहीं, प्रकाश को प्रकट करने का करना है। हमें प्रयत्न सम्प्रदायों को मिटाने का नहीं, जीवन में धर्म और विवेक को विकसित करने के लिए करना है।

जैनधर्म के साम्प्रदायिक मतभेद : उनके निराकरण के उपाय

(अ) सचेलता और अचेलता का प्रश्न

सर्वप्रथम हम श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदायों के मतभेद को ही लें और देखें कि उसमें कितनी सार्थकता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में विवाद का मूल मुद्दा मुनि के नग्नत्व का है। क्योंकि तीर्थप्रवर्तक प्रभु महावीर निर्वस्त्र (अचेल) रहे, यह बात दोनों को मान्य है। आर्यिका (साध्वी), श्रावक और श्राविका की सवस्त्रता (सचेलता) भी दोनों को स्वीकार्य है। सवस्त्रता की समर्थक श्वेताम्बर-परम्परा के प्राचीन आगमों में भी मुनि की अचेलता का न केवल समर्थन है अपितु अचेलकत्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की गई है। जिन और जिनकल्पी अर्थात् जिन के समान आचरण करनेवाले मुनि नग्न रहते थे, यह बात श्वे० परम्परा को भी मान्य है। वस्तुत: जब साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश बढ़ा तो एक ओर श्वेताम्बरों ने जिनकल्प (अचेलकत्व) के विच्छेद की घोषणा कर दी तो दूसरी ओर दिगम्बरों ने मूलभूत आगम-साहित्य को ही अमान्य कर दिया। इस विवाद का परिणाम यहाँ तक हुआ कि श्वे० साहित्य में यह कह दिया गया कि जिनकल्पी मुक्त नहीं होता है। वह केवल स्वर्गगामी होता है, जबकि दिगम्बर आचार्यों ने यह कह दिया कि यदि तीर्थंकर भी सवस्त्र होगा तो मुक्त नहीं होगा। निष्पक्षरूप से श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम-साहित्य का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वस्त्र-पात्र आदि उपाधियों का विकास क्रमशः ही हुआ है। आचारांग मुनि के लिए मूलत: अचेलता का ही समर्थन करता है। अपवाद रूप में वह लज्जा-निवारणार्थ गुह्यांग ढकने के लिए एक कटि वस्त्र और शीत सहन नहीं कर सकने पर शीतकाल में एक या दो अतिरिक्त वस्त्र ग्रहण करने की अनुमति देता है - उन्हें भी ग्रीष्मकाल में त्याग देने की बात कहता है। इस प्रकार उसमें मुनि के लिए अधिकतम तीन और साध्वी के लिए अधिकतम चार वस्त्रों को ग्रहण करने का ही विधान है। आचारांग और समवायांग में मुनि को वस्त्र धारण करने की अनुमति तीन कारणों से दी गई है- १. इन्द्रिय विकार, २. लज्जाशीलता और ३. परीषह (शीत) सहन करने में असमर्थता। वस्तुत: महावीर के संघ में दीक्षित हुए युवा मुनियों को इन्द्रियविकार और लोक-लज्जा के निमित्त प्रारम्भ में अधोवस्त्र धारण करना पड़ता होगा, जिसको बाद में वे त्याग देते होंगे। स्वयं महावीर द्वारा प्रारम्भ में एकवस्त्र ग्रहण करना भी यही सूचित करता है। यद्यपि परम्परागत मान्यताएँ कुछ भिन्न हैं। भगवती आराधना जैसे दिगम्बरों के द्वारा मान्य ग्रन्थों में भी अपवादरूप से मुनि के वस्त्र ग्रहण करने का विधान है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि अचेलता और पूर्ण अपरिग्रह का समर्थक दिगम्बर मुनि वर्ग भी परिस्थितिवश परिग्रह के पंक में फँस गया। चौथी शताब्दी के पश्चात् से अधिकांश दिगम्बर मुनि न केवल जिनालयों में निवास करने लगे अपितु अपने नाम से जमीन आदि का दान प्राप्त करने लगे - और वस्त्र धारण कर राज सभाओं में जाने लगे। इन्हीं से दिगम्बर सम्प्रदाय में भट्टारकों की परम्परा का विकास हुआ है। मध्ययुग में इन भट्टारकों का ही सर्वत्र प्रभाव था और अचेलक दिगम्बर मुनि प्राय: विलुप्त ही हो गये थे। उनकी उपस्थिति के कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। दिगम्बरत्व का समर्थन तो बराबर बना रहा किन्तु व्यवहार में उसका प्रचलन नहीं रह सका। वस्तुत: जिन-मुद्रा को धारण करना सहज नहीं है। आज से ४०-५० वर्ष पूर्व तक सम्पूर्ण भारत में दिगम्बर मुनियों की संख्या दस भी नहीं थी। वस्तुत: साधना एवं तप-त्याग के ऐसे उच्चतम आदर्श कभी लोक-व्यवहार्य नहीं रहे हैं। चाहे मनुष्य अपनी सुविधाभोगी वृत्ति के कारण हो अथवा उनकी अव्यवहार्यता के कारण हो, उनसे नीचे अवश्य उतरा है। श्वेताम्बर मुनिवर्ग तो आगमोक्त मुनि आधार के शिखर से धीरे-धीरे काफी नीचे उतर आया है किन्तु दिगम्बर मुनि भी अनेक बातों में उस ऊँचाई पर स्थित नहीं रह सके, उन्हें भी नीचे उतरना पड़ा है।

वस्तुत: यह सब हमें यह बताता है कि मुनिधर्म की साधना के क्षेत्र में कुछ स्तर और उनके आरोहण का क्रम स्वीकार करना आवश्यक है। मुनि की निर्वस्त्रता की पोषक दिगम्बर परम्परा भी ऐलक क्षुल्लक के रूप में ऐसे वर्गों को स्वीकार करती है जो केवल सवस्त्रता के अतिरिक्त अन्य आचार-नियमों का पालन करने में दिगम्बर मुनि के समान ही होते हैं और दिगम्बर समाज में उनकी मुनिवत् प्रतिष्ठा भी होती है। विवाद का प्रश्न मात्र इतना है कि उन्हें उच्च श्रेणी का गृहस्थ माना जाये या प्राथमिक श्रेणी का मुनि। निर्वस्त्रता के आत्यन्तिक आग्रह के कारण दिगम्बर परम्परा उन्हें मुनि मानने को तैयार नहीं होती - किन्तु यदि तटस्थ भाव से देखें तो उनके लिए 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग स्वयं इस बात को सूचित करता है कि वे मुनियों के वर्ग के सदस्य हैं। क्षुल्लक शब्द का अर्थ 'छोटा' है चूँकि वे मुनि जीवन की साधना के प्राथमिक स्तर पर हैं, अत: उन्हें क्षुल्लक कहा जाता है। क्षुल्लक शब्द छोटा मुनि का सूचक है, छोटे गृहस्थ का नहीं। श्वे० मान्य आगम उत्तराध्ययन में एक क्षुल्लकाध्ययन नाम से जो अध्याय है, वह मुनि आचार को ही अभिव्यक्त करता है। इसलिए क्षुल्लक मुनि ही होता है, गृहस्थ नहीं। श्वेताम्बर आचार्यों ने क्षुल्लक का अर्थ बालवय का मुनि किया है, यह उचित नहीं लगता है। उसका अर्थ साधना के प्राथमिक स्तर पर स्थित मुनि करना अधिक युक्ति-संगत है। ऐसा लगता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर के संघ में निर्वस्त्र और सवस्त्र दोनों ही प्रकार के मुनि थे । श्वेताम्बर आगम तो जिनकल्प और स्थविर कल्प के नाम से दो विभाग स्वीकार करते ही हैं । दिगम्बर-परम्परा को भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि महावीर के संघ में दिगम्बर मुनियों के अतिरिक्त ऐलक और क्षुल्लक भी थे । मात्र वस्त्रधारी होने से ऐलक और क्षुल्लक गृहस्थ नहीं कहे जा सकते । गृहस्थ तो घर में निवास करता है । जिसने घर, परिवार आदि का परित्याग कर दिया है वह तो अनगार है, प्रव्रजित है, मुनि है । अत: ऐलक,क्षुल्लक ये मुनियों के वर्ग हैं, गृहस्थों के नहीं । ऐसा लगता है कि महावीर ने सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीयचारित्र का जो भेद किया था, उसका सम्बन्ध मुनियों के दो वर्गों से होगा । जैनेतर साहित्य भी इस बात की पुष्टि करता है कि महावीर के समय में ही निर्ग्रन्थों में सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों वर्ग थे । बौद्ध पिटक-साहित्य में 'निग्गंथा- एक साटका' के रूप में एक वस्त्र धारण करने वाले निर्ग्रन्थों का उल्लेख है । आचारांग और उत्तराध्ययन में मुनि के वस्त्रों के प्रसंग में 'सान्तरोत्तर' शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस बात का प्रमाण है कि कुछ निर्ग्रन्थ मुनि - एक अधोवस्त्र (कटिवस्त्र) या अन्तरवासक के साथ उत्तरीय रखते थे । श्वे० परम्परा द्वारा 'सान्तरोत्तर' का अर्थ रंगीन या बहुमूल्य वस्त्र करना उचित नहीं । ऐसा लगता है कि जहाँ महावीर के मुनि या तो नग्न रहते थे या कटिवस्त्र धारण करते थे, वहाँ पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु कटिवस्त्र के साथ उत्तरीय भी धारण करते थे । आचारांग की वस्त्र सम्बन्धी यह व्यवस्था ऐलक और क्षुल्लक की वस्त्र-मर्यादाओं के रूप में दिगम्बर-समाज में आज भी मान्य है ।

इन सब चर्चाओं के आधार पर हम मुनि के वस्त्र सम्बन्धी इस विवाद को इस प्रकार हल कर सकते हैं कि प्राचीन परम्परा के अनुरूप मुनियों के दो वर्ग हों-एक निर्वस्त्र और दूसरा सवस्त्र । दिगम्बर-परम्परा यह आग्रह छोड़े कि वस्त्रधारी मुनि नहीं है और श्वेताम्बर-परम्परा निर्वस्त्र मुनियों की आचारगत श्रेष्ठता को स्वीकार करे । जहाँ तक मुनि आचार के दूसरे नियमों के प्रश्न हैं - यह सत्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों की परम्पराओं में मूलभूत आगमिक मान्यताओं से काफी स्खलन हुआ है । आज कोई भी पूरी तरह से आगम के नियमों का पालन नहीं कर कर रहा है । अत: निष्पक्ष विद्वान् आगम-ग्रन्थ और युगीन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर वस्त्र-पात्र सम्बन्धी एक आचार-संहिता प्रस्तुत करें जिसे मान्य कर लिया जाये ।

स्त्रीमुक्ति का प्रश्न और समाधान

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं का दूसरे विवाद का मुद्दा स्त्रीमुक्ति का है । जहाँ तक इस सम्बन्ध में आगमिक मान्यता का प्रश्न है श्वेताम्बर-आगम-साहित्य और यापनीय संघ का साहित्य जो मुनि के दिगम्बरत्व का समर्थक है, इस बात को स्वीकार करता है कि स्त्री और सवस्त्र की मुक्ति सम्भव है । यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों और तत्त्वार्थ की दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में स्त्रीमुक्ति का निषेध है किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार दिगम्बर-ग्रन्थ मूलाचार और धवला टीका में इसके समर्थक पद्य मिले हैं । यद्यपि इस समस्या का हल इन ग्रन्थों के आधारों पर नहीं खोजा जा सकता क्योंकि उत्तराध्ययन के एक अपवाद को छोड़कर श्वेताम्बर और दिगम्बर-साहित्य के प्राचीनतम अंश प्राय: इस सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कुछ भी प्रकाश नहीं डालते हैं जबकि सम्प्रदाय-भेद के बाद रचित परवर्ती साहित्य में दोनों अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं । ज्ञाताधर्मकथा जिसमें मल्ली का स्त्री तीर्थंकर के रूप में चित्रण है तथा अन्तकृतदशा जिसमें अनेक स्त्रियों की मुक्ति के उल्लेख हैं, विद्वानों की दृष्टि में संघ-भेद के बाद की रचनाएँ हैं । निष्पक्ष रूप से यदि विचार किया जाये तो बात स्पष्ट है कि बंधन और मुक्ति का प्रश्न आत्मा से सम्बन्धित है, न कि शरीर से । बन्धन और मुक्ति दोनों आत्मा की होती है, शरीर की नहीं । पुन: श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ इस विषय में भी एकमत हैं कि आत्मा स्वरूपत: न स्त्री है और न पुरूष । साथ ही आत्मा का बन्धन और मुक्ति राग-द्वेष या कषाय की उपस्थिति और अनुपस्थिति पर निर्भर है- उसका स्त्रीपर्याय और पुरुषपर्याय से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । वस्तुत: जो भी राग-द्वेष की ग्रन्थियों से मुक्त होंगे, जो वीतराग और क्षीण-कषाय होंगे और जो निर्वेद अर्थात् स्त्रीत्व-पुरुषत्व की वासना से रहित होंगे, वही मुक्त होंगे । मुक्ति का निकटतम कारण राग-द्वेष रूपी कर्म-बीज का नष्ट होना और वीतरागता का प्रकट होना है । अत: यही मानना उपयुक्त होगा कि जो भी वीतराग हो सकेगा वही मुक्त होगा- यहाँ स्त्री का, सवस्त्र मुनि या गृहस्थ का या अन्य परम्पराओं के वेश धारण करने वाला का राग समाप्त होगा या नहीं, इस विवाद में पड़ना न तो उचित है और न आवश्यक है - जो भी वीतराग एवं निष्कषाय हो सकेगा वह मुक्त हो सकेगा - यदि स्त्री पर्यायधारी आत्मा के कषाय क्षीण हो जायेंगे तो वह मुक्त हो जायेगी, यदि नहीं हो सकेंगे तो नहीं हो सकेगी । इससे बढ़कर यह कहना कि उसके कषाय समाप्त ही नहीं होंगे, हमें कोई चेष्टा नहीं करना चाहिए । पुन: श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ आज यह मानती हैं कि अभी ८२ हजार वर्ष तक तो इस भरतक्षेत्र से कोई मुक्त होनेवाला नहीं है । साथ ही दोनों के अनुसार उन्नीस हजार वर्ष बाद जिनशासन का विच्छेद हो जाना है - अर्थात् दोनों सम्प्रदायों को भी समाप्त हो जाना है । इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों सम्प्रदायों के जीवनकाल में यह विवादास्पद घटना घटित ही नहीं होना है तो फिर उस सम्बन्ध में व्यर्थ विवाद क्यों किया जाये । क्या इतना मान लेना पर्याप्त नहीं है- जो भी राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठ सकेगा क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों को जीत सकेगा, वही मुक्ति का अधिकारी होगा । कहा भी है-कषायमुक्ति मुक्तिकिलरेव ।

केवली-कवलाहार का प्रश्न और समाधान

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में विवाद का तीसरा मुद्दा केवली के आहार-विहार से सम्बन्धित है । इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से श्वे० परम्परा का मत अधिक युक्तिसंगत लगता है, यद्यपि केवली या सर्वज्ञ को अलौकिक व्यक्तित्व से युक्त मान लेने पर यह बात भी तर्कगम्य लगती है कि उसमें आहार आदि की प्रवृत्ति नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होनी चाहिए क्योंकि आहार, वचन आदि की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक होंगी। किन्तु जो वीतराग हैं, अनासक्त हैं, उनकी कोई इच्छा नहीं हो सकती। वह तो शरीर से भी निरपेक्ष है, अत: उसमें शरीर-रक्षण का भी कोई प्रयत्न होगा ऐसा मानना भी उचित नहीं है। आश्चर्यजनक यह है कि श्वेताम्बर आगम-साहित्य में भी केवल भगवती का प्रसंग जो प्रक्षिप्त ही लगता है, को छोड़ कर कहीं ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है जिसमें कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् महावीर कहीं आहार लेने गये हों या उनके लिये आहार लाया गया हो या उन्होंने आहार ग्रहण किया हो-यह बात श्वेताम्बर-परम्परा के लिए भी विचारणीय अवश्य है। आखिर ऐसे उल्लेख क्यों नहीं मिलते।

यद्यपि भावनात्मक एकता के दृष्टि से इस विवाद को हल करना हो तो इतना मान लेना पर्याप्त होगा कि केवली स्वत: आहार आदि की प्राप्ति की इच्छा या प्रयत्न नहीं करता है। वर्तमान संदर्भों में इस बात को अधिक महत्त्व देना इसलिए भी उचित नहीं है कि दोनों के अनुसार अगले ८२००० वर्ष तक भरतक्षेत्र में कोई केवली नहीं होगा।

मूर्तिपूजा का प्रश्न

जैन-धर्म के सम्प्रदायों में एक मुख्य विवादास्पद प्रश्न मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के तारणपन्थी और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के स्थानकवासी एवं तेरापन्थी मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं। मूर्तिपूजा को लेकर अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जैनधर्म में मूर्तिपूजा का प्रचलन कब से हुआ। यह बात स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीनतम आगम आचरांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में मूर्ति या मूर्तिपूजा के सन्दर्भ में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं पाये जाते हैं। अन्तकृत आदि कुछ परवर्ती आगमों में यक्ष आदि की प्रतिमाओं और उनके पूजन का उल्लेख तो है किन्तु जिन-प्रतिमा के पूजन का कोई उल्लेख नहीं है। देवलोकों में शाश्वत जिन-प्रतिमा सम्बन्धी उल्लेख तथा सूर्याभदेव और द्रौपदि के द्वारा जिन-प्रतिमा के पूजन सम्बन्धी उल्लेख भगवती एवं ज्ञाताधर्मकथा में प्राप्त होते हैं, किन्तु विशाल आगम-साहित्य की दृष्टि से ये सब उल्लेख भी अत्यल्प ही कहे जा सकते हैं। दूसरे विद्वानों द्वारा इन आगम-ग्रन्थों का रचनाकाल आचारांग आदि की अपेक्षा काफी परवर्ती माना जाता है। जिन-प्रतिमा के पूजन के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश हमें उत्तरकालीन रचनाओं, आगमिक निर्युक्तियों, चूर्णियों, भाष्यों, वृत्तियों और टीकाओं में ही उपलब्ध होते हैं। महावीर के पूर्व जिन-प्रतिमाओं के अस्तित्व का कोई साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य भी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि हड़प्पा से प्राप्त एक नग्नपुरुष की मृत्तिकामूर्ति को जिन-प्रतिमा कहा जाता है किन्तु वह जिन-प्रतिमा है, यह बात विवादस्पद ही है। महावीर की जीवनचर्या के सम्बन्ध में आचारांग, कल्पसूत्र आदि में जो प्राचीनतम उल्लेख उपलब्ध हैं उसमें उनके किसी जिन-मन्दिर में जाने या जिनमूर्ति के पूजन करने का उल्लेख नहीं है, यद्यपि यक्षायतनों और यक्ष-चैत्यों में उनके जाने और विश्राम करने के उल्लेख प्रचुरता से मिलते हैं। ईसा पूर्व दूसरी, तीसरी शताब्दी तक रचित जैन-ग्रन्थ जिन-प्रतिमा और उसके पूजन के सम्बन्ध में मौन ही हैं। दिगम्बर-परम्परा के कुन्दकुन्द आदि के आगमरूप मान्य ग्रन्थों में जिन-प्रतिमा सम्बन्धी क्वचित् निर्देश हैं, किन्तु ये सभी ईसा के बाद की रचनाएँ हैं।

जैनधर्म में मूर्तिपूजा की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए यह कहा जाता है कि महावीर के जीवनकाल में ही उनकी चन्दन की एक प्रतिमा का निर्माण हुआ था, जिसमें उन्हें राजकुमार के रूप में तपस्या करते हुए अंकित किया गया था। चूँकि यह प्रतिमा उनके जीवनकाल में ही निर्मित हुई थी, इसलिए इसे जीवन्तस्वामी की प्रतिमा कहा गया है। जीवन्तस्वामी की प्रतिमा का उल्लेख संघदासगणिकृत वसुदेवहिण्डी, जिनदासकृत आवश्यकचूर्णि और हरिभद्रसूरि की आवश्यकवृत्ति में है, पर ये सभी परवर्ती काल अर्थात् ईसा की छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। उनके कथन की प्रामाणिकता को केवल श्रद्धा के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। जीवन्तस्वामी की प्राप्त सभी प्रतिमाएँ पुरातात्त्विक दृष्टि से पाँचवीं, छठी शताब्दी की हैं। जीवन्तस्वामी की प्रतिमा के सम्बन्ध में डा० मारुतिनन्दनप्रसाद तिवारी का यह निष्कर्ष द्रष्टव्य है 'पाँचवीं, छठी शताब्दी ईस्वी के पहले जीवन्तस्वामी के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की ऐतिहासिक सूचना प्राप्त नहीं होती है।' इस प्रकार कोई भी ऐसा साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त नहीं होता है जिसके आधार पर महावीर के पूर्व अथवा उनके जीवनकाल में जिन-प्रतिमा की उपस्थिति को सिद्ध किया जा सके।

यद्यपि पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि जिन-प्रतिमा का निर्माण महावीर के निर्वाण के लगभग डेढ़ सौ-दो सौ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा पूर्व की तीसरी, चौथी शताब्दी में हो गया था। सबसे प्राचीन उपलब्ध जिन-प्रतिमा लोहनीपुर की है जो पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है। यह प्रतिमा लगभग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की है। यद्यपि मूर्ति का शिरोभाग अनुपलब्ध है किन्तु मूर्ति की दिगम्बरता और कायोत्सर्ग-मुद्रा उसे जिन-प्रतिमा सिद्ध करती है। मौर्ययुगीन चमकदार आलेप के अतिरिक्त उसी स्थल के उत्खनन से प्राप्त मौर्ययुगीन ईंटें एवं एक रजत-आहत-मुद्रा भी मूर्ति के मौर्यकालीन होने के समर्थक साक्ष्य हैं। इसी काल की कुछ अन्य जिन-प्रतिमा एवं तत्सम्बन्धी हाथी-गुंफा के शिलालेख भी उपलब्ध हैं। ईसा पूर्व दूसरी और प्रथम शताब्दी की तो अनेक जिन-प्रतिमाएँ और आयागपट मथुरा से प्राप्त हुए हैं जिनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि जैनधर्म में मूर्तिपूजा का प्रचलन ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया था। चाहे यह बात विवादास्पद हो सकती है कि महावीर ने जिन-प्रतिमा के पूजन का उपदेश दिया था या नहीं ? किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि जैनधर्म में जिन-प्रतिमा के निर्माण और पूजन की परम्परा लगभग बाईस सौ, तेईस सौ वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। पुन: जिन-प्रतिमाएँ और जिन-मन्दिर जैनधर्म और जैन-संस्कृति और इतिहास की महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं जिन्हें अस्वीकार करने का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने इतिहास और संस्कृति को ही अस्वीकार करना होगा।

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में मूर्तिपूजा का विरोध सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। मूर्तिपूजा-विरोधी यह आन्दोलन इस्लामधर्म से प्रभावित है। इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि जैनधर्म में मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले लोंकाशाह और तारण स्वामी दोनों ही मुस्लिम शासकों के राज्याधिकारी थे। किन्तु यह मानना भी कि केवल मुसलमानों के प्रभाव के कारण जैनधर्म में मूर्तिपूजा के विरोध प्रारम्भ हुआ पूरी तरह सत्य नहीं होगा। जैनधर्म में मूर्तिपूजा के विरोध के कुछ आन्तरिक कारण भी थे। मूर्तिपूजा के नाम बढ़ता हुआ आडम्बर, हिंसा का समर्थन और जटिल कर्मकाण्ड भी इस विरोध में सहायक बने हैं।

मूर्तिपूजा सम्बन्धी जो विवाद आज जैन सम्प्रदायों में है, उसका निर्णय यदि शास्त्र की अपेक्षा सामान्य बुद्धि के आधार पर करें तो किसी एक समन्वयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उस सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता को ही आधार बनाकर चलना होगा। निष्पक्ष शोधों से यह बात स्पष्टरूप से प्रमाणित हो चुकी है कि जैनधर्म में मूर्ति और मूर्ति-पूजा का विकास क्रमिकरूप से हुआ है। पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्य इसके प्रमाण हैं। दूसरे यह भी सत्य है कि मूर्तिपूजा को लेकर परवर्तीयुग में जितने आडम्बर और कर्मकाण्ड खड़े किये गये हैं, उन्होंने जैनधर्म की मूलात्मा पर कुठाराघात किया है। उन्होंने एक सहज एवं सरल साधना-पद्धति को जटिल बनाया है। मूर्तिपूजा के साथ जुड़नेवाले इस कर्मकाण्ड पर ब्राह्मण-संस्कृति और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। चक्रेश्वरी, मणिभद्र एवं यक्ष-यक्षी, भैरव आदि की पूजा एवं यज्ञ जैन-सिद्धान्तों की मूलात्मा के साथ मेल नहीं खाते हैं। यद्यपि जैनों की आस्था को दूसरी ओर केन्द्रित होता देखकर जैनाचार्यों को यह सब करना पड़ा था।

यह निर्विवाद तथ्य है कि मानव जाति के इतिहास में प्रारम्भ से ही मूर्तियों और प्रतिकृतियों का महत्त्व रहा है। आदि-युग के शैलचित्र और गुहाचित्र इस बात के प्रमाण हैं कि मानवीय सभ्यता के प्रारम्भ से ही प्रतिकृतियों के निर्माण ने मनुष्य को आकर्षित किया है। प्रतीक-पूजा का इतिहास बहुत पुराना है। वस्तुतः मानवीय सभ्यता प्रतीकात्मक कला के सहारे ही विकसित हुई है। हमारी भाषा और हमारे शब्द-संकेत जिनके आधार पर हमारे धर्मशास्त्र रचे गये हैं, मानवीय भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक शैली हैं। चाहे हम वृक्षों की पूजा करें, स्तूपों की पूजा करें, चाहे शास्त्रों की पूजा करें या मूर्तियों की पूजा करें, सभी प्रतीक-पूजा के रूप हैं। वास्तविकता यह है कि मानव अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों, चित्रों और प्रतिकृतियों (मूर्तियों) का उपयोग करता रहा है। मात्र यही नहीं, वह अपने पूज्यजनों के प्रतीक-चिह्नों और उनकी प्रतिकृतियों के प्रति प्राचीनकाल से ही श्रद्धा और सम्मान का भाव रखता आया है। आदिम जातियों में तथा हिन्दू-धर्म में प्रतीकपूजा प्रचलित है ही, किन्तु मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी इस्लाम धर्म में भी किसी रूप में प्रतीकपूजा प्रचलित है। काबे के पवित्र पत्थर का चुम्बन, हजरत मुहम्मद के पवित्र बाल के प्रति मुस्लिम सम्प्रदाय की आस्था, कब्र-पूजा और मुहर्रम ये सब प्रतीकपूजा के ही तो रूप हैं। अधिक क्या मूर्तिपूजा के विरोधी जैनधर्म के स्थानकवासी, तेरापंथी और तारणपंथी सम्प्रदायों के अनुयायियों के घरों में भी अपने पूज्य माता-पिताओं, धर्म-गुरुओं और साधु-साध्वियों के चित्रों को सुविधा से देखा जा सकता है। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा के अधिकांश घर अब अपने आचार्यों के चित्रों से मंडित हैं और उन चित्रों के प्रति उनके मन में श्रद्धा और आदर का भाव है। लेखक ने स्वयं अनेक स्थानों पर स्थानकवासी और तेरापंथी आचार्यों के चित्रों के समीप उनके अनुयायियों को धूप-दीपदान करते देखा है। अनेक स्थानकवासी, तेरापंथी और तारणपंथी तीर्थयात्रा करते हुए आसानी से देखे जा सकते हैं। यद्यपि निर्गुणोपासना या भावाराधना एक उच्च स्थिति है किन्तु मूर्ति का पूर्ण विरोध समुचित नहीं है। मूर्तियों और चित्रों के प्रति मनुष्य का आकर्षण और श्रद्धाभाव स्वाभाविक है।

यह सही है कि मनुष्यों की भावनाओं के पवित्रीकरण एवं वीतराग के गुणों का स्मरण दिलाने में मूर्ति निमित्त कारण अवश्य है। वह ध्यान का आलम्बन है तथा हमारे हृदयों को पवित्र भावनाओं और श्रद्धा से आपूरित करती है। अतः मूर्ति का ऐकान्तिक विरोध भी उचित नहीं है। यद्यपि मूर्ति को मूर्तिरूप में ही स्वीकार करना चाहिए। वह वीतराग-प्रभु या भगवान् नहीं। मूर्ति भगवान् है-यह मानने के कारण अनेक अन्धविश्वासों को बढ़ावा मिलता है। मूर्तियों के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हैं, वे चाहे एक बार हमारी श्रद्धा को आन्दोलित करती हों किन्तु जैनधर्म की साधना और उपासना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है कि जिसकी वे प्रतिमाएँ हैं, वह तो वीतराग है - उसका इस चमत्कार प्रदर्शन आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि यह कहा जाए कि जिन-शासन के रक्षक देव ऐसा करते हैं तो वे उन अतिशय क्षेत्रों की प्रतिमाओं जिन्हें लेकर दोनों पक्ष न केवल झगड़ते हैं, अपितु उस प्रतिमा के साथ भी अशोभनीय कृत्य करते हैं सम्बन्ध में कोई ऐसा चमत्कार क्यों नहीं दिखाते, जिससे विवाद शांत हो जाये ओर सही स्थिति प्रकट हो जाये। क्या जिन और जिनशासन की इस फजीहत को देखकर उन्हें तरस नहीं आता? अतः मूर्ति को चमत्कार से नहीं, साधना से जोड़ें।

जहाँ तक श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं की मूर्तियों की भिन्नता के समाधान का प्रश्न है, यह सत्य है कि प्रारम्भ में श्वेताम्बर-जैन भी नग्न मूर्तियों की ही पूजा करते हैं। मथुरा की दिगम्बर मूर्तियाँ-श्वेताम्बर आचार्यों के द्वारा ही प्रतिष्ठित थीं। उनके गच्छ और शाखाओं के नाम नन्दी और कल्पसूत्र की पट्टावलियों के अनुरूप ही हैं। वहाँ जो कण्ह नामक जैन मुनि की मूर्ति मिली है, कटिवस्त्र के चिह्न से युक्त नहीं है, अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर मूर्तियों की यह भिन्नता संघभेद के बहुत बाद की घटना है। आभूषण, अलंकरण और स्फटिक नेत्र आदि का प्रयोग और भी बाद में हुआ है। निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर यह लगता है कि वीतराग प्रतिमा पर यह अंग-प्रशोभन उचित नहीं है। मूर्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मन्दिर के साथ जो परिग्रह जुड़ता जा रहा है वह युक्तिसंगत नहीं है। श्वेताम्बर मुनि श्री न्यायविजय जी ने भी इसका विरोध किया था। यही सब विवादों का मुख्य कारण बन रहा है।

एकता की दृष्टि से यही अच्छा विकल्प होगा कि पद्मासन की ध्यान मुद्रायुक्त प्रतिमाओं को ही अपनाया जाए और उस पर कन्दोरा, लंगोट, स्फटिक नेत्र आदि का उपयोग न हो। यद्यपि इसे तभी अपनाना होगा जबकि दोनों सम्प्रदाय अपना विलीनीकरण कर लें अन्यथा ऐसी मूर्तियों को लेकर जैसे विवाद आज है, वैसे विवाद बाद में भी उठ खड़े होगें।

जहाँ तक मूर्तिपूजा सम्बन्धी विधि-विधान का प्रश्न है, उसमें भी आडम्बर बाद में ही बढ़ा है, अत: अच्छा यही होगा कि दिगम्बर-परम्परा के तेरापंथ में जो अचित द्रव्यों से पूजा का विधान है उसे स्वीकार कर लिया जाये। मूर्ति की द्रव्य-पूजा में हिंसा अल्पतम हो, यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है। जिन-मन्दिरों में यज्ञों को तो तत्काल बन्द कर देना चाहिए, यह पूर्णत: ब्राह्मण-संस्कृति का प्रभाव है। मात्र यही नहीं, द्रव्यपूजा की अपेक्षा भावपूजा पर और प्रभु-भक्ति के माध्यम से प्रभु के गुणों को जीवन में उतारने का लक्ष्य अधिक रहे। जिन-प्रतिमा हमारी भावनाओं की विशुद्धि का साधन है और एक साधन के रूप में उसका स्थान है। यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि मूर्ति और उसकी द्रव्यपूजा की आवश्यकता, साधना और ज्ञान के प्राथमिक स्तर पर उसी प्रकार है, जिस प्रकार वर्णमाला का अर्थबोध कराने के लिए प्राथमिक स्तर पर चित्रों की सहायता अपेक्षित है।

मुखवस्त्रिका के प्रश्न का समन्वय

श्वेताम्बर-सम्प्रदायों में एक विवाद मुखवस्त्रिका को लेकर भी है। स्थानकवासी और श्वेताम्बर-तेरापंथी डोरा डालकर उसे सदैव ही मुखपर बाँधे रहते हैं। मुखवस्त्रिका का विकास महावीर के परवर्ती काल में हुआ है। ऐसा कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है, जिससे सिद्ध हो कि महावीर ने मुखवस्त्रिका रखी थी। आचारांग के प्राचीनतम अंश प्रथम श्रुतस्कन्ध में मुखवस्त्रिका का उल्लेख नहीं है। यद्यपि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व से इसका प्रयोग श्वेताम्बर परम्परा में होता रहा है, ऐसा श्वेताम्बर आगम-साहित्य से सिद्ध होता है। तथापि डोरा डालकर बाँधने के सम्बन्ध में ठोस ऐतिहासिक प्रमाण १७-१८ वीं के पूर्व के नहीं मिले हैं। मुखवस्त्रिका के उपयोग का मुख्य उद्देश्य तो वायुकायिक जीवों की रक्षा है। डोरा डालकर उसका प्रयोग करना मात्र एक सुविधा की बात है। एकता की दृष्टि से इस समस्या का हल यही हो सकता है - प्रवचन आदि के प्रसंगों पर उसे बाँधा जाये, अन्य अवसरों पर बातचीत करते समय उसका सावधानीपूर्वक उपयोग किया जाये।

दया-दान के विवाद का प्रश्न

श्वेताम्बर-तेरापंथ का जैन-समाज के अन्य सम्प्रदायों से मुख्य विवाद दया-दान के प्रश्न को लेकर है। यद्यपि आज यह कहा जाता है कि आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी समाज के साधुओं में आई आचारगत विकृतियों को दूर करने के लिए क्रान्ति की थी, चाहे इस बात में आंशिक सत्यता भी हो किन्तु मूल बात तो विचारगत भिन्नता की थी। मूल प्रश्न यही था कि लोक-मंगल के उन कार्यों को जिनमें अल्पतम हिंसा की भी सम्भावना हो, धर्म के अन्तर्गत माना जाये अथवा नहीं? आचार्य भिक्षु ने ऐसे कार्यों को स्पष्टरूप से धर्म-साधना के अन्तर्गत नहीं माना था। चाहे उनकी इस मान्यता के पीछे निरपेक्ष अहिंसा के सिद्धान्त का और तत्सम्बन्धी सूत्रकृतांग आदि के कुछ आगमिक प्रमाणों का बल भी हो, किन्तु यह अवधारणा मनुष्य की जन-कल्याणकारी प्रवृतियों के विरोध में जाती है और लोक-व्यवहार में जैनधर्म को आलोचना का विषय बनाती है। यही कारण है कि तेरापंथ-परम्परा के व्यवहार-कुशल आचार्य तुलसी ने इस वास्तविकता को समझा और लोक-व्यवहार के नाम पर ही सही, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों को अपने धर्म-लोक में प्रोत्साहित किया है। इस सम्बन्ध में कट्टर तेरापंथियों ने उनकी आलोचना भी की है। किन्तु उन्होंने साहसपूर्वक यह परिवर्तन किया है। राणावास की शिक्षा-संस्थाएँ और लाडनूं का आयुर्वेदिक चिकित्सा केन्द्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। आज कोई भी तेरापंथी मुनि अन्य सम्प्रदाय के मुनियों को आहार देना या असंयती जनों की सेवा करना पाप है -- ऐसा स्पष्ट उद्घोष नहीं करता है। यह एक शुभ लक्षण है --इसके कारण तेरापंथ और दूसरे जैन-सम्प्रदायों के बीच की दूरी कम हुई है और वह जन साधारण में आलोचना का विषय बनने से बचा है। व्यवहार के क्षेत्र में सेवा और दान का महत्त्व है, इतना तो हमें मानकर चलना होगा।

हमारी एकता का स्वरूप क्या हो ?

एकता की बात करना सहज है किन्तु वह एकता किस प्रकार सम्भव होगी, यह बता पाना कठिन है। एकता का एक रूप तो वह हो सकता है जिसमें सभी अपने नाम-रूप खोकर एक हो जायें अर्थात् सभी सम्प्रदाय विलीन होकर जैनधर्म और समाज का एक ही रूप अस्तित्व में रहे। एकता का यह स्वरूप आदर्श तो हो सकता है किन्तु इसकी व्यवहार्यता सन्देहास्पद है। आज सम्प्रदायों की जड़ें इतनी गहरी जम चुकी हैं कि उन्हें पूरी तरह उखाड़ पाना सम्भव नहीं है। सम्प्रदायों के अस्तित्व के साथ ही लोगों के हित और सम्मान के प्रश्न जुड़े हुए हैं। बाहर से चाहे हम सब एकता की बातें करें किन्तु भीतर से कोई भी अपने अस्तित्व और अहं को विलीन करने को तैयार नहीं हैं। जब भी हमें अपने हितों या अस्तित्व के प्रति खतरा नजर आता है, हम 'धर्म खतरे में हैं' का नारा लगाना प्रारम्भ कर देते हैं। जब आज हम एक मूर्ति या मन्दिर पर से भी अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहते हैं, तो क्या यह सम्भव है कि हम अपनी सम्पूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक सम्पत्ति को समर्पित करने को सहज ही तैयार हो जाएँगे। जब स्थानकवासी मुनि वर्ग की अपनी बनाई हुई एकता को कायम नहीं रख सका, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी सम्प्रदायों के मुनि और श्रावक अपनी-अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारणाओं को त्याग कर एक सूत्र में बँध जाएँगें ।

जैन-समाज में और विशेषरूप से स्थानकवासी समाज में अभी भी कुछ ऐसे आचार्य एवं प्रमुख मुनिगण हैं जो दूसरे सम्प्रदाय के आचार्यों एवं मुनियों के साथ बैठने, प्रवचन देने, उनसे विचार-चर्चा करने में अपने सम्यक्त्व की हानि समझते हैं । हमारा अहं एक पाट से भी सन्तुष्ट नहीं होता-पाट पर पाट लगाया जाता हैं जबकि कहीं आर्यिकाओं को और कहीं तो सामान्य मुनियों को भी उनके सम्मुख भूमि पर बैठना होता हैं । अनेक में यह ललक होतीं है कि दूसरे समाज के प्रतिष्ठित आचार्य, विद्वान् और राजनेता उनके समीप तो आयें किन्तु उन्हें बराबरी का आसन देने में हम संकोच का अनुभव करते हैं । अनेक बार ऐसी घटनाएँ आलोचना का विषय बनी हैं और उन्होंने पारस्परिक वैमनस्य की खाई को अधिक चौड़ा किया है । अपने को सम्यक्त्वी अपने को संयती (साधु) और दूसरे को असंयती (साधु), अपने को शुद्धाचारी और दूसरों को शिथिलाचारी मानना या कहना भी भावात्मकता की सबसे बड़ी बाधा है, अत: इस दृष्टि को सबसे पहले छोड़ना होगा । मुनि-आचार में तरतमता महावीर से लेकर आज तक रही है और भविष्य में भी रहेंगी । किन्तु व्यावहारिक जीवन में यदि इस आधार पर भेदभाव किया जाएगा, तो सामाजिक एकता खण्डित होगी । क्या एक ही सम्प्रदाय के सभी साधु ज्ञान, तपस्या, साधना आदि की दृष्टि से समान होते हैं? यदि उनमें तरतमता होते हुए भी उनके प्रति समान व्यवहार होता है, तो फिर अन्य सम्प्रदायों के प्रति समादर एवं समानता का व्यवहार क्यों नहीं किया जा सकता । यद्यपि यह प्रसन्नता का विषय है कि आज अधिकांश मुनियों में पारस्परिक मिलन और समादर की भावना बढ़ी है और इसके सुफल भी सामने आये हैं, पुरानी कटुता और आलोचना-प्रत्यालोचना में कमी हुई है, फिर भी अभी ऐसे प्रयत्नों की आवश्यकता है जिससे विविध सम्प्रदाय के आचार्य एक दूसरे के निकट आ सकें ताकि भावात्मक एकता की दिशा में हम आगे बढ़ सकें । हमारी एकरूपता के आदर्श स्वरूप का प्रस्तुतीकरण तो हमने विवादस्पद प्रश्नों की चर्चा करते हुए किया है, किन्तु उनकी व्यवहार्यता आज कितनी होगी ? यह बता पाना कठिन है। अत: एकता के आदर्श की ओर बढ़ने के लिए हमें कुछ चरण निश्चित कर लेने होंगें । प्रथम चरण में हमें वे कार्य करने होगें, जिनसे पारस्परिक कटुता कम को । इस सम्बन्ध में निम्न उपाय करने होंगे-

(१) मूर्तियों, मन्दिरों और तीर्थों अथवा अन्य सम्पत्ति सम्बन्धी विवाद यथाशीघ्र निपटा लिये जाएँ । इसके लिए निष्पक्ष लोगों का एक न्यायाधिकरण (पंचायत) बना दिया जाए और सभी विवाद उसे सुपुर्द कर दिये जायें । वह विवादों के तथ्यों की समीक्षा करके अन्त में जो निर्णय दे, उसे मान्य कर लिया जाए । मूर्ति और मन्दिर सम्बन्धी निर्णयों में जैसा कि पूर्व में तीर्थंकर के सम्पादक डॉ० नेमीचंदजी ने सूचित किया था - पुरातत्त्वविदों की सहायता ली जा सकती है । स्पष्ट एवं तथ्यात्मक साक्ष्यों के आधार पर जिन विवादों का निराकरण सम्भव न हो, उनके सम्बन्ध में विभाजन की नीति अपना ली जाए । इस सम्बन्ध में यदि दोनों सम्प्रदाय के लोग उदारदृष्टि का परिचय दें, तो यह असम्भव नहीं है ।

(२) परस्पर एक दूसरे की आलोचना, पर्चेबाजी या एक दूसरे के विरुद्ध समाचार पत्रों में लेखन बन्द कर दिया जाए।

(३) विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों के पारस्परिक मिलन एवं सामूहिक प्रवचनों के लिए प्रयास किये जाएँ । वे मिलन के समय एक दूसरे को समान भाव से आदर प्रदान करें । प्रवचन-मंच पर सभी को बराबरी का स्थान दिया जाए ।

(४) महावीर जयन्ती, क्षमापना आदि पर्वो को सामूहिक रूप से मनाया जाये । पर्व-तिथियों, संवत्सरी आदि की एकरूपता का प्रयत्न किया जाये ।

(५) सर्व सम्प्रदायों की भारत जैन महामण्डल या जैन महा सभा जैसी कोई संस्था हो जो पारस्परिक विवादों को सुलझाने के साथ ही जैन समाज के सामान्य हितों की रक्षा का प्रयत्न करें तथा भावी एकता के लिए आधारभूमि प्रस्तुत करें ।

दूसरे चरण में हमें विभिन्न उपसम्प्रदायों एवं गच्छों के विलीनीकरण का प्रयास करना होगा -- अर्थात् स्थानकवासी, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक एवं तेरापन्थी अपने आवान्तर मतभेदों को त्यागकर अपना संगठन तैयार करें । इसी चरण में दिगम्बर-सम्प्रदाय भी अपने आवान्तर भेदों को समाप्त कर एकरूप हो जायें । यह कार्य दु:साध्य तो नहीं है, किन्तु श्रमसाध्य अवश्य है । प्रबुद्ध मुनियों की देखरेख में निष्पक्ष विद्वानों की ऐसी समिति बना दी जाये जो प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए आगम और वर्तमान परिस्थिति दोनों को ध्यान में रखकर एक आचार संहिता प्रस्तुत करे । जब धीरे-धीरे इन आवान्तर सम्प्रदायों के संगठन सुदृढ़ हो जायें तो अन्त में तीसरे चरण में सर्व सम्प्रदायों के विलीनीकरण के लिए जैनधर्म का सर्वमान्य स्वरूप प्रस्तुत किया जाये और चारों सम्प्रदाय अपने नाम-रूपों को विलीन कर उस एक ही महासंघ के अंग बन जायें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org